

सामाजिक विघटन के कारण व उपचार

सारांश

माता-पिता से बालक को जो शिक्षा मिलती है, उसे आधुनिक शिक्षाशास्त्र की परिभाषित शब्दावली में 'अनौपचारिक' शिक्षा कहा जाता है, जबकि हम भ्रान्ति के शिकार हैं कि बाल्यावस्था की सार्थकता 'औपचारिक' शिक्षा में है। हम भूल जाते हैं कि औपचारिक शिक्षा की पकड़ बुद्धि पर होती है, जबकि अनौपचारिक बनाने हेतु व्यवहार करते हैं उसी तरह का व्यवहार उन्हें विद्यालय तथा समाज में प्रदर्शित करना चाहिए। विद्यालय में छात्र के केवल ज्ञानात्मक पक्ष का ही नहीं अपितु भावात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए, जिससे पता चलता रहे कि जो समाज के भविष्य निर्माता हैं, उनमें किस प्रकार के संस्कार और संस्कृति विकसित हो रहे हैं तथा उनमें किस प्रकार का सुधार किया जा सकता है।

मुख्य शब्द : शिष्टाचार, आध्यात्मिक, हथकंडो, रूपान्तरित, पार्थक्य, उत्तरदायित्व।

प्रस्तावना

जिस देश में आज भी 40 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति निरक्षर हों, वहां सत्य का स्मरण करते हुए भी संकोच होता है कि वहां शिक्षा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संकोच इसलिए और भी होता है कि आज जिसे हमने शिक्षा मान लिया है, उसकी न तो कोई प्राचीन परम्परा है और न वह वस्तु शिक्षा ही है। आज शिक्षा प्राप्त करने का अर्थ है विद्यालय/महाविद्यालय/ विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना, एक निश्चित अवधि तक वहां की फीस देते रहना, प्रमाण-पत्र के रूप में अलादीन का कलयुगी चिराग प्राप्त करना। अकबर इलाहाबादी के शब्दों में—

क्या बताएं यार क्या कारेनुमायां कर गए,

बी.ए. किया नौकर हुए पेंशन मिली फिर पर गए।

कोई भी ऊंची डिग्री ले लीजिए फिर भी आगे की कहानी में कोई फर्क नहीं आएगा। इस शिक्षा का इतिहास तो बस लगभग अधिक से अधिक एक शताब्दी पुराना है। विदेशी शासकों द्वारा अपने साम्राज्य के संचालन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के विचार से शुरू की गई इस "शिक्षा" की योजना बस इतनी थी कि कुछ भारतीयों को अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिष्टाचार का ज्ञान करा दिया जाए, ताकि ऐसे "शिक्षित लोगों की अंग्रेजी भक्ति" पर विश्वास किया जा सके और इन्हें शासन का मोहरा बनाया जा सके। सत्ता के मद में डूबे राजा को यस-मैन की हिज मास्टर्स वायस की आवश्यकता होती है, विवेक का प्रयोग करने वाले की नहीं, वहां जरूरत होती है, हां कहने वालों की, "क्यों पूछने" वालों की नहीं। फिर वह चाहे सैनिक सेवा हो चाहे असैनिक, ऐसे फरमांबरदार तैयार करने के लिए जिस तरह ट्रेनिंग की जरूरत थी, वैसी ट्रेनिंग देने को हमारे आंकड़ों ने जो प्रबन्ध किया, उसे ही शिक्षा की संज्ञा दे दी गई।

आधुनिक प्रचलित शिक्षा व शिक्षा व्यवस्था का सम्बन्ध पुरुषार्थ चातुष्टय (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) सिद्धि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति "सा विद्या या विमुक्तये" से न रहकर केवल ऐसी सूचनाएं एकत्र करना हो गया, जो सरकारी कामकाज के संचालन के लिए आवश्यक हो, जो ब्रिटिश शासकों और उनकी जीवन शैली के प्रति सम्मान, श्रद्धा और निष्ठा जगाए ताकि हम उनका विश्वास अर्जित कर सकें। ग्रेसम के नियमानुसार, शिक्षा मन पर और मानव व्यवहार को रूपान्तरित करने का काम वास्तव में मनही करता है। यजुर्वेद के 34वें अध्याय में वैदिक ऋषि ने प्रार्थना की है, "तम्मे मनः शिव सं कल्यमातु" अर्थात् मेरा मन अच्छे संकल्प करने वाला हो। बुद्धि को तो मेधावी बनानेकी प्रार्थना की गई है, ताकि जटिल से जटिल विषयों के सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु उसकी पकड़ में तुरन्त आ जाएं, पर मन? वह शिव संकल्प वाला हो, मन में अच्छे विचार आएंगे तो व्यक्ति अच्छे काम करेगा, बुरे विचार आएंगे तो बुरे काम करेगा। "यन्मनसा ध्यायते तद् वदित पद् वाचा वदति तद् कमणा करोति"। मन, वचन, कर्म की अन्तरंग मित्रता यही तो है।



दिनेश प्रताप सिंह

सहायक अध्यापक,
शिक्षाशास्त्र विभाग,
आई० एम० आर० दुहाई,
गाजियाबाद

हमारे यहां की परम्परा में संस्थागत औपचारिक शिक्षा के लिए जिस संस्था "गुरुकुल" का विकास किया गया, उसका ढांचा ही इस प्रकार का था कि औपचारिक-अनौपचारिक का पार्थक्य सम्भव था ही नहीं, वे परस्पर अनुपूरक बन गए थे। इस शिक्षा प्रणाली के मूल तत्व निम्नांकित माने जा सकते हैं।

1. गुरु और शिष्य का व्यक्तिगत आध्यात्मिक सम्बन्ध।
2. सत्य पत, दम, शम आदि साधनों द्वारा चरित्र का निर्माण।
3. स्वाध्याय, जिसमें व्यक्ति, नारद के शब्दों में "मंत्रविद भी बने और आत्मविद" भी।

स्पष्ट है कि इस प्रणाली का उद्देश्य सूचनाएं प्रदान करना नहीं, व्यक्ति का निर्माण करना था। शिक्षा की इस प्रकार की व्यवस्था का ही यह परिणाम था कि व्यक्ति को ऐसे संस्कार मिलते थे, जो उसके आचरण को नैतिकता के सांचे में ढाल देते थे।

वर्तमान विद्यालय यदि नैतिक गुणों का विकास नहीं कर रहे हैं, सुसंस्कृत व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर रहे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात? आश्चर्य तो तब होता, जब स्थिति इससे विपरीत होती। औपचारिक "शिक्षा" के वर्तमान केन्द्रों का गठन ही सूचनाएं प्रदान करने के लिए किया गया था, पर इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना हम विभिन्न आयोगों व समितियों आदि का गठन करते चले आ रहे हैं। इन आयोगों, समितियों आदि ने शिक्षा पर विचार किया, सबने समस्या के मूल में गए बिना निष्कर्ष निकाल लिए। कॉमन स्कूल सिस्टम की सिफारिश करके कोठारी कमीशन ने अवश्य एक क्षेत्र में समस्या को मूल के पास से पकड़ने का प्रयास किया, पर फटे कम्बल को बदलने की बजाय पैबन्द से काम चलाने की अभ्यस्थ सरकार को वह पसन्द ही नहीं।

कम्बल तार-तार हुआ जा रहा है, पर हम उसे बड़े लाट साहब का तोहफा मानकर सहेजने-संवारने की कोशिश में ही लगे हैं। ऊपर से मन को दिलासा देने के लिए यह टिप्पणी और कर देते हैं कि सारी दुनिया की हालत खराब है, हम तो वैसे ही पिछड़े हुए हैं, गरीब हैं। विद्वानों का मानना है कि गरीब होना उतना बुरा नहीं, जितना बुरा है गरीबी का भाव, क्योंकि विचारों में गरीबी आ जाने पर व्यक्ति सद्-असद् भले-बुरे, उचित-अनुचित का विवेक खो बैठता है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि विचारों में अकिंचनत्व घुसता चला गया है। परिणामतः उस नई सभ्यता का जन्म हुआ है, जिस में हर चीज का मूल्य धन व अर्थ की भाषा में आंका जाता है क्योंकि गरीबी तो धन से ही दूर हो सकती है और सारा समाज अर्थ, को केवल अर्थ को, जीवन का चरम लक्ष्य मानकर आचरण करने लगता है अध्यापन को भी सामान्य व्यवसाय मान लिया गया है। अध्यापन का व्यवसाय मानते ही, इससे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को अर्थ की तराजू में तोला जाने लगा है। मेरा मानना है कि सारी बुराइयों की जड़ यही है। अध्यापन कार्य को विद्या दान कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार, "सर्वेक्षामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते", यह दान सब प्रकार के दानों में श्रेष्ठ है। दान वही दे सकता है, जिसके पास बहुत कुछ हो, तो देने की वृत्ति भी हो। जिसने रट रटाकर या बिना रटे दूसरे हथकंडों से किसी प्रकार परीक्षा उत्तीर्ण कर ली, उस

युवक को हम अध्यापक बना देते हैं। लेकिन जब उसके पास कुछ दे सकने योग्य इकट्ठा हो पाता है, जब उसकी वृत्तिदान देने की बनने लगती है, तब हम उससे कह देते हैं कि अब आप काम के नहीं रहे आपको रिटायर किया जाता है। वर्तमान स्थिति कितनी भी खराब है, असाध्य नहीं है, इसे सुधारा जा सकता है। मैं इस सन्दर्भ में भावी नवयुवकों, शिक्षाविदों व शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े, हुए लोगों से प्रार्थना करूंगा कि वे अपनी भूमिका को समझे तथा सामाजिक विघटन को रोकने का प्रयास करें क्योंकि वे भी समाज के सदस्य हैं और सामाजिक विघटन अगर इस गति से चलता रहा, तो इस समाज में किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह पाएगा। इस विघटन को रोकने का सबसे सशक्त साधन विद्यालय है। विद्यालय का आशय भवनों से नहीं वरन् वहां के वातावरण से है और वातावरण का निर्माणकर्ता शिक्षक है। अतः शिक्षक सामाजिक विघटन को अगर चाहे तो रोक सकते हैं और उसका सहज व आसान तरीका बालकों को सुसंस्कृत तथा संस्कारिता बनाना है। इसके लिए शिक्षक को स्वयं में तथा विद्यालय परिवेश में निम्नांकित सुधार करने होंगे।

शिक्षक को शिक्षण व्यवसाय अपनाते समय अपनी इच्छा व रुचि की परख कर लेनी चाहिए कि क्या वे इस व्यवसाय को पसन्द करते हैं। अथवा केवल पैसा अर्जन करने के लिए चुन रहे हैं। अगर भाग्य से शिक्षण व्यवसाय मिल गया है, तो उसके कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को निष्ठा से पूर्ण करना चाहिए क्योंकि अगर समाज विघटित हो जाएगा तो वे और उनके परिवार भी सुरक्षित नहीं बचेंगे। अतः विद्यालय को अपना परिवार तथा छात्रों को अपना बच्चा समझकर शिक्षा दें तथा संस्कार व नैतिकता का निर्माण करें।

शिक्षक आचरण भी विद्यालय परिवेश को बनाने व बिगाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, अतः शिक्षक जिस तरह अपने घर में अपने बच्चों को सुसंस्कृत व संस्कारित खोटा सिक्का खरे सिक्के को प्रचलन से हटा देता है, इसी प्रकार असली शिक्षा की जगह यह नकली शिक्षा ही असली शिक्षा मान ली गई। इसी के साथ फिर अनिवार्यता लोगों की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य भी बस नौकरी पाना हो गया। समय बीतने के साथ अब यह परिणाम प्राप्त हो रहा है कि शिक्षा अर्थात् "नौकरी"। नाकरी से भिन्न भी शिक्षा का कोई प्रयोजन हो सकता है, अर्थ हो सकता है, यह आज सामान्य पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए अबूझ पहली बन गई है।

भारतीय परम्परा में व्यक्ति की शिक्षा माता, पिता और शिक्षक तीनों का समन्वित उत्तरदायित्व माना गया है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार-मातृमान पितृमान, आचार्यमान पुरुषो वेद। माता, पिता और आचार्य तीनों जब अपने कर्तव्यों का यथावत पालन करते हैं, तभी सन्तान योग्य बनती है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य के रूप में जन्म लेने वाले प्राणी को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए संस्कार आवश्यक बताए गए हैं। संस्कार से तात्पर्य किसी वस्तु के रूप को बदल देना, उसे नया रूप प्रदान करना है। चरक ऋषि ने लिखा है "संस्कार हि गुणान्तराधानमचाते"। पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनकी जगह सद्गुणों की स्थापना कर देने का

नाम ही संस्कार है। इस दृष्टि से संस्कार मानव के नव निर्माण की योजना है— “जन्मना जाते शुद्रः संस्कारत द्विज उच्यते”। जन्म से सब शूद्र होते हैं, संस्कार उन्हें द्विज बनाते हैं। भारतीय ऋषियों का मानना है कि जब मां बच्चे को गोद में खिला रही होती है तब उस पर जो संस्कार पड़ते हैं, वे जीवन पर्यन्त साथ रहते हैं, मिटाए नहीं जा सकते। स्वामी दयानन्द के अमर ग्रन्थ “सत्यार्थ प्रकाश” के दूसरे अध्याय ‘सम्मूलाल’ का प्रारम्भ करते हुए जब उन्होंने लिखा, “अद्य शिक्षा प्रवक्ष्याम” तो इसमें बालक की शिक्षा का प्रारम्भ गर्भाधान से माना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि बाल्यावस्था के प्रारम्भिक छह वर्ष जीवन के निर्माण वर्ष होते हैं, बालक आगे चलकर क्या बनेगा, कैसा बनेगा, इसकी नींव इस अवधि में पड़ जाती है। मात्र बौद्धिक या संवेगात्मक दृष्टि से नहीं, चारित्रिक, मानसिक, शारीरिक आदि सभी दृष्टियों से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ष है। प्राचिन भारतीय परम्परा में जीवन के इन स्वर्णिम वर्षों की शिक्षा का दायित्व जहाँ मां पर डाला गया, वहाँ आधुनिक विधान व समाज व्यवस्था यह दायित्व विद्यालयी शिक्षक पर डाल रहे हैं।

माता—पिता से बालक को जो शिक्षा मिलती है, उसे आधुनिक शिक्षा शास्त्र की परिभाषिक शब्दावली में ‘अनौपचारिक’ शिक्षा कहा जाता है, जबकि हम इस भ्रान्ति का शिकार हैं कि बाल्यावस्था की सार्थकता ‘औपचारिक’ शिक्षा में है। हम भूल जाते हैं कि औपचारिक शिक्षा की पकड़ बुद्धि पर होती है, जबकि अनौपचारिक बनाने हेतु व्यवहार करते हैं उसी तरह का व्यवहार उन्हें विद्यालय तथा समाज में प्रदर्शित करना चाहिए।

विद्यालय में छात्र के केवल ज्ञानात्मक पक्ष का ही नहीं, अपितु भावात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष का भी मूल्यांकन किया जाना चाहिए जिससे पता चलता रहे कि जो समाज के भविष्य निर्माता है, उनमें किस प्रकार के संस्कार और संस्कृति विकसित हो रहे हैं, तथा उनमें किस प्रकार का सुधार किया जा सकता है।

छोटी—छोटी कक्षाओं के छात्र ही इस समाज व देश के भविष्य निर्माता हैं, अतः इनको जिस प्रकार की शिक्षा दी जायेगी, उसी प्रकार का उच्चारण सीख लेंगे,

अर्थ की प्रधानता बताई जाएगी तो अर्थ प्राप्त करने हेतु येन—केन प्रकारेण धन अर्जन करने का प्रयास करेंगे, अतः उन्हें बाल्यकाल से ही चरित्र की प्रधानता बताई जाएगी तो समाज का विघटन रोका जा सकता है।

बाल्यकाल से ही बालक अनुकरण द्वारा सीखते रहते हैं, अतः शिक्षक को आदर्श आचरण तथा व्यवहार छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए। अर्थ की प्रधानता आचरण व व्यक्तित्व तथा बोलचाल में कही भी झलकना नहीं चाहिए। विषय—वस्तु पर शिक्षक का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। विषय—वस्तु का प्रस्तुतीकरण व शिक्षक आचरण में समानता होनी चाहिए। प्राकृतिक घटनाओं तथा क्रियाओं के अनुरूप छात्र व्यवहार को प्रदर्शित करने का बोध कराना चाहिए। छात्र शिक्षक में केवल औपचारिक शिक्षा सम्बन्ध न हो, बल्कि अनौपचारिक शिक्षा सम्बन्ध भी बनाया जाना चाहिए। छात्रों के ज्ञानात्मक पक्ष के मूल्यांकन के साथ—साथ, भावात्मक व क्रियात्मक पक्ष के मूल्यांकन पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। छात्रों में आत्मचेतना, आत्म—मूल्यांकन, स्व—बोध इत्यादि तथ्यों का ज्ञान व मूल्यांकन किया जाना चाहिए। उपरोक्त क्रियाओं द्वारा समाज के बढ़ते हुए समाज के बढ़ते हुए सामाजिक विघटन को रोका जा सकता है तथा समाज की दिशा निर्धारित की जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आत्माराम, इक्कीसवीं सदी में शिक्षा, अखिल भारती दिल्ली।
2. वशिष्ठ विजेन्द्र कुमार, शिक्षा के सिद्धान्त, अर्जुन पब्लिसिंग हाउस दिल्ली।
3. प्रो० सत्यमूर्ति, महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन, अरुण प्रकाशन दिल्ली।
4. सदगोपाल अनिल, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी प्रा०लि० दिल्ली।
5. डीवी जॉन, शिक्षा और लोकतंत्र, ग्रंथ शिल्पी प्रा०लि० दिल्ली।
6. गुप्त नत्थूलाल, मूल्यपरक शिक्षा और समाज, नमन प्रकाशन नई दिल्ली।